शिक्षा के समाजशास्त्रीय सिद्धांत-V

नव-मार्क्सवादी दृष्टिकोण

अमन मदान
अनुवाद : वर्षा

शिक्षा के परम्परागत मार्क्सवादी समाजशास्त्र की तुलना में नव-मार्क्सवादी दृष्टिकोण कहीं अधिक आशावादी है। उनका यह मानना है कि हालांकि यह सच है कि शिक्षा के लक्ष्य और कक्षा के मसले बाजार के दबाव से गहराई से प्रभावित होते हैं, फिर भी इस बात में बहुत सम्भावना है कि शिक्षक छात्रों को केवल मुनाफा कमाने वाली मशीन ही नहीं बल्कि एक बेहतर इंसान बनाने में बड़ी भूमिका निभा सकते हैं। पिछले लेख में जिन मार्क्सवादी विद्वानों की चर्चा की गई थी वे परम्परागत तरीके से यही कहते हैं कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने स्कूलों और उनके ऐजेण्डे पर प्रभुत्व जमा लिया है। लेकिन माइकल एप्पल, स्टेनली ऐरोनोविट्ज और हेनरी गिरुक्स जैसे नव-मार्क्सवादियों का यह मानना है कि इस खेल में केवल पूंजीवाद ही एकमात्र खिलाड़ी नहीं है। यहां अन्य खिलाड़ी भी हैं, जैसे संस्कृति और राजनीति के क्षेत्र हैं और ये पुराने मार्क्सवादी चिंतन की जगह स्कूलों और शिक्षकों को एकदम अलग दिशाओं में जाने में मदद कर सकते हैं।

इन नव-मार्क्सवादियों का सबसे प्रमुख आयाम संभवतः उनका इस बात पर जोर देना है कि लोगों के पास सापेक्षिक स्वतंत्रता होती है। शिक्षक, प्रधानाध्यापक और स्कूल की पाठ्यपुस्तकें इंजीनियर बनने और बड़ी कम्पनियों में काम करने की आकांक्षा रखने के बारे में पूरे जोर-शोर से बात कर सकते हैं, लेकिन इसके बावजूद एक छात्रा स्वयं पर मन ही मन मुस्कुरा सकती और यह सोच सकती है- लेकिन मैं तो एक ऐसी पर्यावरणवादी होना चाहती हूं जो प्रकृति की गोद में रहती है, और वह इंसान और शेष दुनिया के बीच एक स्वस्थ संबंध का पोषण करने में सालों बिता सकती है। शेष समाज उसे पीछे धकेलेगा और उसे इस अजनबियत का अहसास कराएगा कि वह एक ऐसी पराई व्यक्ति है जो अपने अन्य दोस्तों और परिवार के सदस्यों की तरह ज्यादा से ज्यादा उपभोग नहीं करना चाहती है। समकालीन पूंजीवाद इसी बात पर टिका हुआ है कि लोग लगातार उन मालों और सेवाओं को खरीदने का आग्रह करते रहें कि जिनकी उन्हें जरूरत नहीं थी। लेकिन लोग थोड़ी देर ठहर कर खुद से पूछ सकते हैं क्या यही वह चीज है जिसकी वे तमन्ना करते हैं। उनका दिल जिसकी कामना करता है, वह उनमें शामिल हैं- जो वे यू ट्यूब में देखते हैं, जिन किताबों को वे पढ़ते हैं, उनसे टकराने वाले ऐक्टिविस्ट संगठन उनसे जो कहते हैं आदि, आदि। पुराने मार्क्सवादी हमारी संस्कृति, हमारे स्कूलों और स्कूल से निकलने के बाद हम क्या करेंगे इसके विषय में हमारी उम्मीदों पर पूंजीवादी तौर तरीकों के नियंत्रण के बारे में जोर देते नजर आते हैं। इसके विपरीत, नव-मार्क्सवादियों ने कहा कि पारम्परिक मार्क्सवादी जो कहते थे वह सच था, मगर फिर भी हमारे पास उन व्यवस्थाओं पर तर्क करने की क्षमता है जो हमारे ऊपर प्रभुत्व जमाती हैं। खास तौर से संस्कृति का क्षेत्र एक ऐसी जगह थी जहां लोगों ने अपने विचारों और सोचने के उन तरीकों की सर्जना की जो पूंजीवाद के मिजाज के खिलाफ जा सकते थे।

अंतोनियो ग्राम्शी स्कूलीकरण पर नव-मार्क्सवादी चिंतन के विकास के लिए एक शुरुआती प्रेरणा थे। बहुत पहले, उन्होंने लिखा था कि मार्क्स के आर्थिक लेखन को एक प्रत्यक्षवादी (positivist) तरीके से देखना गलत है। यानी उन्हें सिद्धांतों के ऐसे समूह के रूप में देखना जहां आर्थिक सिद्धान्तों का इस्तेमाल भविष्यवाणी करने के लिए किया गया। इसके बजाय, हम ऐसे जीवित, सांस लेने वाले इंसान थे जिनके शुद्ध आर्थिक हितों के अलावा भी अनेकों हित एवं सरोकार थे। हमने अपने परिवेश से संवाद किया और उस संवाद के आधार पर विचारों को निर्मित किया। इसके परिणामस्वरूप बनी समझ इतिहास को नई रोचक दिशाओं में आकार देती गई। लुई अल्थूसर एक और ऐसे शख्स थे, जिन्होंने तर्क किया कि आर्थिक के अलावा अनेकों ऐसे तत्व थे, जिसने स्कूल को प्रभावित किया। उन्होंने अन्य चीजों के अलावा धर्म, मीडिया, और स्कूलीकरण के प्रभाव की ओर इशारा किया। इन विचारों के कारण बहुत से लोगों ने यह कहना शुरू किया कि यह जरूरी नहीं है कि शिक्षा व्यवस्था में सुधार करने के लिए हम पूंजीवाद को उखाड़कर फेंकने का इंतजार करें। इसके बजाय, संस्कृति का क्षेत्र उन विकल्पों के निर्माण की ताकत दे सकता है और जो अधिक मानवीय और गैर शोषणकारी हैं। लोग उदाहरणों, अनुभवों, गीतों लेखों, विडियो को आपस में साझा करने के लिए एकजुट हो सकते हैं। यह विकल्प उनके समूह की एकजुटता से और गतिशील हो सकता है और शिक्षा संबंधी उनकी नई दृष्टि को जीवन्त कर सकता है। निश्चित रूप से, पूंजीवादी अर्थव्यस्था और काम का शोषणकारी चरित्र अभी भी एक समस्या थी तथा उसको अंततः पूरी तरह से बदले जाने की जरूरत थी। लेकिन परिवर्तन के लिए केवल इंतजार करते रहने की जरूरत नहीं थी।

इंसान होना जिन्दा होना है

पाउलो फ्रेरे के काम एवं लेखन बहुत अच्छी तरह से नव-मार्क्सवादी दृष्टिकोणों के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों को उजागर करते हैं। फ्रेरे ने कहा था कि इंसान होने की प्रमुख चीज है जीवन्त होना, अपने परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया देना, इसके बारे में सोचना, चयन करना और काम करना। कक्षा में जिन छात्रों को बोलने का अवसर मिलता है और अपने मन की चीजों को कहने का अवसर मिलता है, उन्हें ऐसी कक्षा में रहना रुचिकर लगने लगता है। वे शिक्षक जो नए विचारों और समस्या को समझने के नए तरीकों का निर्माण करते हैं वे इस खुशी का अहसास कर सकते हैं कि एक इंसान होना क्या होता है। कक्षा से बाहर के जीवन में भी अपने मुद्दों से जुड़ना और उनका हल ढूंढना, जीवित रहने का सार है। लेकिन इसमें तब बाधा पहुंचती है जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे की सत्ता के अधीन रहने लगता है। अगर किसी से यह कहा जाता है कि अपनी जाति के कारण तुम एक मंदिर में नहीं घुस सकते, अथवा एक महिला होने के कारण तुम गणित नहीं पढ़ सकती, ऐसे में हमारी मानवता दब जाती है और कुचली जाती है। एक मजदूर जो सारा दिन उबाऊ और दोहराव वाले कामों को करता रहता है, इससे उसके भीतर की जीवन्तता खत्म हो जाती है। ऐसी समाज व्यवस्था जो अपने से नीचे समूह को दबाती है, वह उन्हें इंसान बनने के मौके देने से इंकार कर देती है। पर्याप्त खाना ना मिलना अथवा पर्याप्त संसाधन ना मिलना, सम्मान का ना होना, इन सबसे जीवन की वह चमक बुझ जाती है जो हमारे लिए जरूरी है।

जिस तरीके से हम पढ़ाते है और सीखते हैं वह अक्सर शोषणकारी और अमानवीय हो सकता है। खासतौर से, ऐसी स्थिति में जब शिक्षा पर ताकतवर सामाजिक समूहों का नियंत्रण होता है और उनका आशय अन्य सामाजिक समूहों को अपने अधीन रखना होता है। तब वे, सीखने के ऐसे तरीके इजाद करते हैं जो इंसानों के लिए, उन विचारों और व्याख्याओं के निर्माण की संभावना से इंकार कर देते हैं, जो वास्तव में उनके जीवन के मुद्दों से संबंधित होते हैं। यह उस ओर ले जाती है जिसे मार्क्सवादी परम्परा छद्म चेतना का निर्माण कहती है और अंततः जिसे ग्राम्शी ने वर्चस्व का निर्माण (Hegemony) कहा था। संस्कृतियों का निर्माण वहां होता है जहां जनता केवल अपने परिवेश की बुद्धिमान प्रेक्षक ही नहीं रह जाती, बल्कि वह अपनी समस्याओं के हल के लिए खुद सक्रिय तरीके से रास्ता तलाशने लगती है न कि ऐसे लोगों की तरह जहां लोग प्रभुत्वशाली समूहों की समस्याओं के समाधान के लिए ताकतवर लोगों दवारा

निर्मित विचारों और सस्कृतियों के अंधभक्त बन जाते हैं। इससे जनता की अपनी क्षमताओं और मानवीय सम्भावना का निषेध होता है। फ्रेरे के अनुसार हमारी शिक्षा व्यवस्था अक्सर यही करती है।

अपनी प्रसिद्ध किताब ''उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र'' में फ्रेरे ने जिसे वह शिक्षा का बैंकिग मॉडल कहते हैं की तुलना शिक्षा के मुक्तिदायी मॉडल से की है। उनकी किताब से लिए गये अंश नीचे दिये गये हैं जिन्हें अनेकों जगह पर उदधृत किया गया है और इन्हें युनिसेफ द्वारा वितरित पोस्टरों में भी दिया गया था। लेकिन इसे यहां एक बार फिर से लिखना जरूरी है। बैंकिंग मॉडल वाली शिक्षा के बारे में वह कहते है,

''शिक्षक पढ़ाते हैं, छात्र पढ़ते हैं।

शिक्षक सब कुछ जानते हैं और छात्र कुछ भी नहीं।
शिक्षक सोचते हैं और छात्र उनके सोचे हुए के बारे में सोचते हैं।
शिक्षक बोलते है, और छात्र चुपचाप सुनते हैं।
शिक्षक अनुशासित करते हैं, और छात्र अनुशासित होते हैं।
शिक्षक चयन करते हैं और अपने चुनाव को थोपते हैं, और छात्र उसका पालन करते हैं।
शिक्षक कार्यवाही करते हैं और छात्र इस भ्रम में रहते हैं कि वे शिक्षक की कार्यवाही के जरिए कार्यवाही कर रहे हैं।
शिक्षक कार्यक्रम की विषयवस्तु का चयन करते हैं और छात्र उसको ग्रहण कर लेते हैं।
शिक्षक छात्र की स्वतन्त्रता के खिलाफ, ज्ञान के आधिपत्य को अपने खुद के पेशेवर आधिपत्य से भ्रमित करते हैं।
शिक्षक सीखने की प्रक्रिया का विषय होता है जबकि छात्र केवल वस्तु होते है।''

-- फ्रेरे (2005 : 73)

शिक्षा का बैंकिंग मॉडल वह है जहां छात्रों को निर्जीव कर दिया जाता है और ज्ञान को उनमें इस तरह निवेशित किया जाता है जैसे कि कोई व्यक्ति एक निर्जीव डिब्बे में पैसे डालता है। लेकिन यह लोगों की फितरत के हिसाब से सही नहीं था। वे चीजों के बारे में सोचना चाहते थे, अपनी खुद की व्याख्या करना चाहते थे और अपना चयन खुद करना चाहते थे। यह सत्ता की बड़ी व्यवस्थाओं के लिए बहुत खतरनाक था जैसे पूंजीवाद अथवा जाति व्यवस्था अथवा यहां तक कि पितृसत्ता। इसलिए शिक्षा व्यवस्था ऐसी बनी जिसने वर्चस्ववादी विचार सिखाए और लोगों को सवाल पूछने से हतोत्साहित किया। फ्रेरे ने तर्क किया कि शिक्षा के बैंकिग मॉडल के बजाय शिक्षकों को शिक्षा की समस्या केन्द्रित मॉडल के निर्माण का प्रयास करना चाहिए। इसमें छात्रों को स्वयं सोचने के लिए आमंत्रित करना चाहिए। उनके सामने धीरे-धीरे ऐसी जटिल समस्या रखनी चाहिए जो उनके सामाजिक और पर्यावरणीय परिवेश को प्रतिबिम्बित करती हो और उनके हल तलाशने के तरीकों को प्रोत्साहित करना चाहिए। यह एक संपूर्ण मानव के निर्माण का रास्ता था ना कि केवल वेतन भोगी रोबोट बनने का।

संस्कृति : संघर्ष के एक क्षेत्र के रूप में

ज्यादातर शिक्षक, छात्र और प्रशासकों को जब अपनी-अपनी संस्थाओं और बाहरी दुनिया में सत्ता के ढांचों का सामना करना पड़ा तो आमतौर पर उन्होंने अपनी आजादी की भावना को दबा दिया, अपनी पहल कदमी खो दी और समाज में प्रभावी धारा का महज अनुसरण करने लगे। खुद चिन्तन करने की बजाय हम उन विचारों का अनुसरण करने लगे जिन्हें प्रबंधकों ने अपनी सुविधा और मजदूरों को नियंत्रण में रखने के लिए गढ़ा था, जिसे पुरुषों ने ऐसी समाज व्यवस्था को बनाए रखने के लिए निर्मित किया था जिसमें औरतें उनकी सेवा करें, जिन्हें प्रभुत्वशाली जातियों ने दूसरी जातियों को अपने अधीन रखने के लिए उपयोगी पाया था। नव-मार्क्सवादियों का मानना था कि आंशिक रूप से ऐसा उस संस्कृति के कारण था जो हमारे समयों में निर्मित हुई थी। हम हमेशा उन तस्वीरों और कहानियों से घिरे हुए थे जो हमें उस दिशा में जाने के लिए ललचाते रहते थे जिसके बारे में दूसरे लोग बात करते प्रतीत होते थे। फिल्मों

और टीवी सीरियलों में ''अच्छे'' व्यक्ति कुछ खास तरह के कपड़ों में दिखाई देते थे जो ऑफिसों में कम्प्यूटरों पर काम करते होते थे। यह माना जाता था कि औरतें एक खास तरह की दिखाई देती थीं और पुरुष दूसरी तरह के। ऐसा लगता था कि दलितों का कोई अस्तित्व ही नहीं हैं। क्या इससे यह साफ हो नहीं जाता कि स्कूलों का जीवन किस तरफ जा रहा था? हमारे चारों तरफ ऐसी प्रचार सामग्री भरी हुई थी जो हमें बताती थी कि शानदार प्रतियोगी परीक्षाएं ही सफलता, सम्मान और कैरियर का रास्ता थीं। यही बात हमारे पड़ोसी भी हमसे कहते थे। हमारी इच्छा को झुकाने और हमें कुछ खास तरीके के काम करने और दूसरे न करने देने के लिए संस्कृति की भूमिका जबरदस्त थी।

नव-मार्क्सवादियों ने इसका दूसरा पहलू भी देखा : यदि हम दुनिया को बदलना चाहते हैं तब उस लड़ाई का अधिकांश संस्कृति के क्षेत्र में ही लड़ना होगा। अर्थव्यवस्था और कुछ वर्गों द्वारा दूसरे वर्गों का शोषण बहुत महत्वपूर्ण था। किन्तु सिर्फ यही संघर्ष का क्षेत्र नहीं था। संस्कृति के भीतर स्वायत्तता की बड़ी गुंजाइश होती है क्योंकि हम केवल भौतिक परिस्थितियों की कठपुतलियां मात्र नहीं होते हैं। हम गीतों में, शिक्षा में, पाठ्यपुस्तकों में, फिल्मों में एक दूसरी तरह की तस्वीरों और कहानियों को चित्रित कर सकते हैं जिसमें लोग शोषण से मुक्त हों। इसके जरिये लोग यह विश्वास करना शुरू कर सकते हैं कि मजदूर अपने आप सफल कॉपरेटिव बना सकते हैं, यह संभव है कि औरतें अपनी जिन्दगी और अपने शरीर पर नियन्त्रण रख सकें और यह भी संभव है कि जाति की श्रेणीबद्धता से निकला जा सके।

नव-मार्क्सवादियों का मानना था कि सच यह है कि लोग वास्तव में कई तरह से सामाजिक प्रभुत्व को चुनौती देते हैं। मार्क्सवादी विचार की एक बुनियादी अवधारणा है ''सामाजिक पुनरुत्पादन''। इसका मतलब है कि पूंजीवाद को अपनी निरन्तरता बनाए रखने के लिए एक खास तरह की संस्कृति की निर्मिति की जरूरत होती है, चीजों की ओर एक खास तरीके से देखे जाने की जरूरत होती है, और खास तरीके के लोगों की जरूरत पड़ती है आदि, आदि। शिक्षा में काम करने वाले परम्परागत मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों के अनुसार सामाजिक पुनरुत्पादन की यह जरूरत ही स्कूलों को पूंजीवाद की नौकरानी बना कर रख देती है। लेकिन नव-मार्क्सवादियों ने इस बात पर जोर देना शुरू किया कि यहां बहुत सारे अवसर भी हैं जिन्हें वे ''प्रतिरोध'' (Resistances) कहते थे। बहुत से स्कूलों में आप बहुत से ऐसे लोगों को पाएंगे जो वास्तव में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के दबाव का अनुसरण नहीं करते।

इसका एक क्लासिक उदाहरण पॉल विलिस की किताब *लर्निंग टू लेबर* (1977) में दिया गया है। विलिस ने एक ऐसे हाईस्कूल में नृवंशविज्ञानिक (Ethnographic) काम किया जहां मजदूर वर्ग के छात्र पढ़ते थे। विलिस ने दर्शाया कि परम्परागत मार्क्सवादियों द्वारा पेश तस्वीर जिसमें स्कूल और छात्र पूंजीवाद के निर्देशों पर नाचते हैं, उससे यहां जो कुछ हो रहा था, वह मेल नहीं खाता था। उन्होंने उन छात्रों का अध्ययन किया जो बहुत विद्रोही और ''शैतान'' थे और कहा कि वस्तुतः उन्होंने स्कूली सफलता के उस पूंजीवादी संस्करण को नकार दिया था जिसके कारण वे किसी कम्पनी में एक ऊंची नौकरी पाने योग्य हो सकते थे। वे एक आदर्श जीवन के इस तरह के चित्रण की भर्त्सना करते थे और उन छात्रों और शिक्षकों पर हंसते थे जो इसका समर्थन करते थे। वे उनका मजाक उड़ाते हुए उन छात्रों को इयरओल्स (कानखजूरे) कहते थे जो शिक्षकों और स्कूल द्वारा कहे जाने वाली हर बात को जस का तस स्वीकार कर लेते थे। विलिस ने स्पष्ट तौर पर यह कहा कि पूंजीवाद के पुनरुत्पादन की यह कोई सामान्य प्रक्रिया नहीं है जो स्कूलों में होती है। इसके बजाय, हमें एक प्रतिरोध की जटिल प्रक्रिया के रूप में इसका सैद्धान्तीकरण करना चाहिए था। हालांकि जो इन बच्चों के संदर्भ में किसी विकल्प के निर्माण की ओर नहीं ले जा पाया क्योंकि अंततः वे फैक्ट्रियों में काम करने चले गये जहां वे अभी भी काम कर रहे थे। वे श्रेणीबद्धता के सबसे निचले स्तर पर अकुशल और शारीरिक श्रम करने वाले मजदूर के रूप में बने रहे। विलिस ने पूंजीवादी दौर में स्कूलों के अन्दर संस्कृति की भूमिका को समझने के लिए कहीं अधिक परिष्कृत तरीके अपनाए जाने की बात की। लोग कठपुतलियां नहीं होते, वे अपने विचारों और रास्तों को खुद बनाते हैं लेकिन यह सब हमारे समाज में पूंजीवाद की वृहत्तर प्रक्रिया द्वारा नियन्त्रित और निर्देशित होती है।

स्कूलों में पुनरुत्पादन और प्रतिरोध

आज स्कूलों द्वारा जिन चुनौतियों का सामना किया जा रहा है उन्हें समझने में नव-मार्क्सवादियों का योगदान प्रमुख है। इस सामान्यीकृत समझ जिसमें स्कूलों को फैक्ट्री की जरूरतों के अनुसार व्याख्यायित किया गया, से अलग जाकर उन्होंने उन तमाम सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को चिह्नित किया जिससे स्कूलीकरण प्रभावित होता था। इसमें उन्होंने प्रतिरोधों की एक शृंखला को भी चिन्हित किया और अब स्कूलों को बहुत सारे संघर्षों के क्षेत्र के रूप में देखा जाने लगा। उन्होंने उस एक महत्वपूर्ण संस्कृति की बहुत तीखी आलोचना की जिसे प्रबंधनवाद के रूप में जाना जाता है। यह प्रवृत्ति बढ़ रही है जिसमें स्कूलों को चलाने के लिए फैक्ट्रियों और ऑफिसों के प्रबंधकों से लिए गए विचारों का इस्तेमाल हो रहा है। स्कूलों के बारे में चिन्तन के क्षेत्र में प्रबंधकों की संस्कृति प्रभावी होती जा रही है जो धीरे-धीरे शिक्षकों और शिक्षाविदों की संस्कृति को निगल रही है। प्रबंधनवाद ऐसे विचारों को ला रहा है जिसमें मजदूरों की उत्पादकता को नाप कर उन्हें वेतन दिया जाता है, इस विचार को स्कूलों को चलाने में लागू किया जा रहा है। दूसरे शब्दों में वे कहते हैं कि शिक्षकों को इस आधार पर वेतन दिया जाना चाहिए कि उनके छात्र कितना अंक पाते हैं। शिक्षकों द्वारा रिकार्ड रखने का काम बढ़ता जा रहा है ताकि शिक्षक क्या करते हैं क्या नहीं करते, इस पर नजर रखी जा सके। यह उसी तरह है जैसे कि विस्तृत रिकार्ड रखने के काम द्वारा यह सुनिश्चित किया जाता है कि सेल्स के लोग अपना समय बरबाद करने की बजाय ग्राहक के पास जाते रहें। शिक्षकों के साथ फैक्ट्री के एक मजदूर की तरह ही व्यवहार किया जाता है। ऐसा समझा जाता है कि उनके पास दिमाग ही नहीं है। अपना दिमाग लगाने की उन्हें कोई जरूरत ही नहीं है। इसके बजाय, यह मालिकों और प्रबंधकों का काम है कि वे उनके दिमागों का इस्तेमाल करें और वे उस व्यवस्था के तहत काम करें जिसे ऊपर के लोगों ने तैयार किया है। इस विचार की बहुत कम मान्यता है कि शिक्षक अगली पंक्ति में काम करते हैं जहां वे छात्रों के साथ एक जटिल सांस्कृतिक काम में लगे होते हैं। छात्र विभिन्न पृष्ठभूमियों से आते हैं और शिक्षकों को उनके साथ एक परिष्कृत संवाद की जरूरत होती है, इस विचार को नहीं समझा जाता।

हेनरी गिरुक्स और माईकल एप्पल जैसे नव-मार्क्सवादियों के अनुसार शिक्षकों को महज शिक्षित मजदूर नहीं समझा जाना चाहिए जो कक्षा में आकर महज बटन दबाते हैं। इसके बजाय, हमें बुद्धिजीवी शिक्षकों की जरूरत है। वस्तुतः उन्हें इस तरीके से शिक्षित और तैयार किया जाना चाहिए जिससे वे ''परिवर्तनकारी बुद्धिजीवी'' बन सकें। उनके अन्दर ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि वे उन परिस्थितियों के जटिल सांस्कृतिक वातावरण को समझ सकें और जिन पृष्ठभूमि से बच्चे आते हैं उनके साथ अपना व्यवहार कर सकें। उन्हें पाठ्यचर्या को अपनाने योग्य होना चाहिए और छात्रों के जीवन के लिए उसकी प्रासंगिकता के अनुसार उसे लगातार परिष्कृत करने की योग्यता होनी चाहिए। उन्हें यह जानना चाहिए कि विभिन्न पृष्ठभूमियों से आने वाले बच्चों के साथ कैसे संवाद बनाया जाए। स्कूल लगातार पूंजीवाद, पितृसत्ता, क्षेत्रवाद, जाति और नस्लवाद जैसी चीजों के दबाव में होते हैं। इससे यह और भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि हम शिक्षकों में आलोचनात्मक चिन्तन की क्षमता को विकसित करें। केवल तभी, वह इस योग्य हो पाएंगे कि वे इन ताकतों के खिलाफ खड़े हो सकें और बच्चों को इस तरीके से तैयार करने योग्य हो सकें जिससे एक बेहतर कल का निर्माण किया जा सके। यदि ऐसा नहीं होता है तो वे बहाव के साथ ही बह जाएंगे। खड़े होने और शक्तिशाली संस्कृतियों से सवाल करने योग्य होने के लिए शिक्षकों में मजबूत चिन्तन की आदत होनी चाहिए और उन्हें सैद्धान्तिक कामों की अच्छी जानकारी होनी चाहिए जिससे वे तात्कालिक परिघटनाओं के पीछे की चीजों को भी देख सकें।

भारत में शिक्षा की पुनर्कल्पना

बहुत से भारतीय समाज वैज्ञानिकों के लेखन में भी नव-मार्क्सवादी परम्परा की अनुगूंज सुनाई पड़ती है। खासतौर से उनके लेखन रोचक हैं जो इस बात की पुनर्कल्पना करने का प्रयास करते हैं कि हमारी शिक्षा कैसी होनी चाहिए।

यह एक कठिन काम है। नव-मार्क्सवादी जो कहते हैं, यदि वह सच है और वास्तव में शिक्षा व्यवस्था बहुत सी सत्ता व्यवस्थाओं जैसे पूंजीवाद, पितृसत्ता और जाति के केन्द्र में है तो कोई भी उनके इस शिकंजे से निकल कर एक ताजी कल्पना करने योग्य कैसे हो सकता है? हम अपने आसपास के लोगों से नई कल्पना के निर्माण के कार्यभार और रोजमर्रा की जिन्दगी को नए तरीके से जीने के लिए ताकत ग्रहण करते हैं। चाहे वह उनकी भौतिक उपस्थिति के रूप में हो या उनकी रचनाओं या उनके वीडियो के रूप में हो जो इस बात का उदाहरण पेश करते हैं कि उस चीज से मुक्त होना कैसे सम्भव है, जिसके लिए ताकतवर लोग हमें सोचने के लिए मजबूर करते हैं। यहां, मैं संक्षेप में ऐसे केवल तीन विद्वानों कृष्ण कुमार, शर्मिला रेगे और अविजित पाठक का जिक्र करूंगा। वे अपने आपको चाहे नव-मार्क्सवादी मानते हों या न मानते हों लेकिन उनके काम में नव-मार्क्सवादी परम्परा से काफी समानता मिलती है।

कृष्ण कुमार

कृष्ण कुमार जिन्होंने छात्रों और सहयोगियों की कई पीढ़ियों को प्रेरित किया है, वह अभी हाल में ही दिल्ली विश्वविद्यालय के सेन्ट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ एजूकेशन के एक प्रोफेसर के पद से सेवानिवृत्त हुए हैं। कृष्ण कुमार विभिन्न तरीके के विचारों से प्रभावित रहे हैं जिसमें शामिल हैं- औपनिवेशिक शासन के खिलाफ भारतीय जनता का प्रतिरोध और उपनिवेशवाद के अन्दर संस्कृति के क्षेत्र में हुए संघर्ष। वे दो किताबें जिन्हें मेरी समझ से शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले सभी लोगों को पढ़ना चाहिए उनमें से एक किताब कृष्ण कुमार ने लिखी है। अपनी किताब *पोलिटिकल एजेण्डा ऑफ एजुकेशन* में वह कहते हैं कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारत की अपनी सामाजिक असमानताओं के साथ मिल कर काम करते हुए एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था बनाई जिसने छात्रों को मौन कर दिया। इस शिक्षा व्यवस्था का सबसे बड़ा सरोकार छात्रों को चुप कराना और अनुशासित करना था न कि छात्रों को स्वतंत्र चेतन तरीके से बोलने देना और उन्होंने जो सीखा है उस पर आलोचनात्मक तरीके से चर्चा करने देना। उनमें शिक्षकों और छात्रों का भय था और उस चिन्तन का एक भय व्याप्त था जो उनके माध्यम से सामने आ सकता था। इसका दमन करना ब्रितानी के साथ ही भारतीय शासक समूहों का भी एजेण्डा था। हालांकि यह एक मात्र चीज नहीं थी जो ब्रितानी लोगों द्वारा बनाई गई इस शिक्षा व्यवस्था में घटित हुई। कृष्ण कुमार ने चिह्नित किया कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के महान नेता इसी शिक्षा व्यवस्था से निकले थे और कई तो अध्ययन के लिए ब्रिटेन भी गए थे। औपनिवेशिक शासन से निकली आज की शिक्षा व्यवस्था में भी आलोचनात्मक उन्मुखता के निर्माण की सम्भावनाएं है।

कृष्ण कुमार कहते हैं कि ऐसी शिक्षा जो चुप रहने पर जोर देती है, औपनिवेशिक शासन को वैधानिकता प्रदान करती है तथा किसानों और मजदूरों का शोषण करती है, को सबसे बड़ी चुनौती नई तालीम की गांधीवादी परम्परा से मिली। इसने थोड़े समय के लिए आम आदमी के काम को शिक्षा का आधार बनाने का प्रयास किया। इसने कृषि और दस्तकारी का इस रूप में प्रयोग किया जहां छात्र इससे सीख सकें और इस पर अपनी प्रतिक्रिया दे सकें तथा ज्ञान के समकालीन रूपों को सीख सकें। हालांकि, राष्ट्र के आधुनिकीकरण के शिक्षा विमर्श और बांध बनाने व उद्योग लगाने की इच्छा ने इससे किनारा कर लिया। भारत के बढ़ते मध्यवर्ग के लिए दस्तकारी और कृषि की शिक्षा का बहुत कम उपयोग था। यह वर्ग जिन संस्थानों पर नियंत्रण रखता था उसने इन्हें दूसरे वर्गों की संस्कृतियों और हितों के खिलाफ खड़ा कर दिया।

अविजित पाठक

अविजित पाठक जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के सेन्टर फॉर द स्टडी ऑफ सोशल साइंसेज में प्रोफेसर हैं। विकास और शिक्षा पर उनका लेखन जाना माना है। वे अखबारों और ऑन लाइन प्रकाशकों जैसे *द न्यू लीम* और *द वायर* में खूब लिखते हैं। उनकी लिखी हुई *'एजूकेशन ऐण्ड मॉरल क्वेस्टः री कॉलिंग द फारगॉटेन'* वह दूसरी किताब है जिसे मेरे अनुसार भारत में शिक्षा पर काम करने वाले सभी लोगों को पढ़ना चाहिए। उनका तर्क है कि समकालीन भारतीय

शिक्षा ने महत्वपूर्ण नैतिक सवालों को पूछने के साहस का दमन किया है। इसके बजाय शक्तिशाली लोग जिसका अनुमोदन व तारीफ करते हैं उस चीज को शिक्षा में ''सफल'' घोषित किया जाता है। स्वतन्त्र नैतिक प्रतिक्रिया की अनुपस्थिति के कारण वे ताकतें जो कुछ खास चीजों को ''सफल'' के रूप में व्याख्यायित करती हैं, जांच से साफ बच निकलती हैं और छिपी रहती हैं। उदाहरण के लिए, स्कूलों में जिस तरीके से विज्ञान पढ़ाया जाता है, वह इसके कुछ खास आयामों को ही चिह्नित करता है जबकि इसके दूसरे अधिक महत्वपूर्ण आयामों को अनदेखा कर देता है। उन्होंने कहा कि ज्यादातर स्कूलों और पाठ्यपुस्तकों में जो विज्ञान पढ़ाया जाता है, उसके तीन झुकाव हैं। पहला, इसे आश्चर्य और उत्तेजना के स्रोत के रूप में, प्रकृति और तत्व के ऊपर प्रतिक्रिया के रूप में देखा जाता है। इसका दूसरा आयाम इसके परीक्षणों और प्रयोगशालाओं से जुड़े होने के रूप में है। विज्ञान महज वहमी विचारों और भावनाओं के बारे में नहीं होता है, बल्कि एक ऐसे यथार्थ के बारे में होता है जो हमारे अन्दर भी है और बाहर भी। तीसरा पहलू वह है जिसे वह विज्ञान का उपयोगितावाद कहते है। स्कूलों के लिए विज्ञान की शिक्षा प्रतियोगी परीक्षाओं और तकनीकी मजदूर बनने की इच्छा का लगभग पर्यायवाची बन गई है। इंजीनियरिंग और मेडिसिन की परीक्षाओं में टॉप पर पहुंचने के लिए यह एक पागलपन की तरह है। क्या सही है, के गहरे मायने के बारे में सोचने के लिए यहां बहुत कम जगह बचती है।

अविजित पाठक विशेष तौर पर विज्ञान की शिक्षा की आलोचना पर ही नहीं रुकते। इसके बजाय, वह विज्ञान के वर्तमान अर्थ को उस तरीके के विरोधाभास में खड़ा करते हैं जिस तरीके से विज्ञान पढ़ाया जा सकता है। इसमें विज्ञान का अर्थ एक व्यक्ति के मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता और निष्ठा प्रेषित करने के रूप में हो सकता है। अन्ततः, वह कहते हैं कि कोपरनिकस और गैलीलियो समेत उन सभी लोगों के जीवन का यही संदेश है जिन्होंने अपने विचारों के कारण उत्पीड़न का सामना किया। विज्ञान खुलेपन जैसे मूल्यों को पढ़ाने के बारे में भी होता है। कोई भी यह नहीं कह सकता कि इसमें उसे अन्तिम सत्य प्राप्त हो गया है। विज्ञान के अनुसार लोगों को अपने दिमाग खुले रखने चाहिए और सभी विचारों को सुनना चाहिए तथा नए साक्ष्यों को समझने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में विज्ञान में घमण्ड और सत्ता का स्थान नहीं होता, जैसा कि प्रायः स्कूल शिक्षा में उसे देखा जाता है। विज्ञान और गणित को ही महत्वपूर्ण विषय के रूप में देखा जाता है, बाकी सब गैरजरूरी माना जाता है और इसे समय की बरबादी समझा जाता है जिसका बेहतर उपयोग प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी में ही किया जा सकता है। जो विज्ञान पढ़ते हैं वे ताकतवर संस्थाओं के ताकतवर कर्मचारी हो जाते हैं। यही लोग महत्वपूर्ण चीजों को जानते हैं बाकी लोग विशेषकर मानविकी और सामाजिक विज्ञान के लोग तुच्छ ज्ञान पढ़ाते हैं। अविजित पाठक के अनुसार इस घमण्ड की जगह विज्ञान को स्कूलों में विनम्रता की शिक्षा देने के एक अवसर के रूप में देखा जाना चाहिए। उनके अनुसार यह विज्ञान का गहरा संदेश है।

अन्त में, विज्ञान वह जगह है जहां हम संवेदनशीलता और सौंदर्यबोध की शिक्षा दे सकते हैं। शिक्षण का परम्परागत तरीका विज्ञान को कविता और भावना से जुदा कर देता है। किन्तु हम अपने चारों तरफ के संसार से आमतौर से इस तरह से पेश नहीं आते। सूर्य के बारे में अध्ययन करना ब्रह्माण्ड की सबसे आश्चर्यजनक चीजों में से एक के बारे में पढ़ना है। सूर्य के बारे में पढ़ना बिना यह बात किये कि इसने मानव को कैसे प्रेरित किया, मानव इसे देख कर कैसे आश्चर्यचकित रहा, कुछ बहुत महत्वपूर्ण चीजों को नजरअन्दाज कर देना है। दूसरे कुछ शिक्षाविदों के साथ ही अविजित पाठक भी यह तर्क करते हैं कि विज्ञान की शिक्षा को सौंदर्यशास्त्र की शिक्षा के साथ मिला देना चाहिए जहां प्रकृति के अर्थ और उसके मूल्य पर चर्चा प्रकृति का मॉडल बनाने के प्रयास के साथ-साथ चलना चाहिए। उनका कहना है कि मूल्यों को हमारी शिक्षा व्यवस्था के केन्द्र में रखने की जरूरत है। यह उस तरह की बात नहीं है जहां परम्परावादी यह कहते हैं कि नैतिक शिक्षा को शिक्षा में लाए जाने की जरूरत है। यहां परम्परावादियों का आशय प्रायः यह होता है कि परम्परागत मूल्यों के कुछ संस्करणों को ले लिया जाए। समस्या यह है कि समान ''परम्परा'' के अन्दर ही कई

वैकल्पिक आवाजों के साथ हमारी मुठभेड़ होती है। हमें ध्यानपूर्वक अपनी परम्पराओं की समीक्षा करने की जरूरत है और आलोचनात्मक तर्क का इस्तेमाल करते हुए उन मूल्यों को लेने की जरूरत है जो हमारे समय के हिसाब से सर्वोत्कृष्ट हों और यदि आवश्यक हो तो हमें नई संस्कृतियों और नए मूल्यों को निर्मित करने से भी नहीं हिचकना चाहिए। परम्परावादियों द्वारा जो समस्या खड़ी की जाती है, उसका सामना ''मूल्य मुक्त'' विज्ञान के नाम पर सभी चीजों का तिरस्कार करके नहीं किया जाना चाहिए। मनुष्य बिना मूल्यों के नहीं रह सकता। जरूरत है कि हम अपने समय के हिसाब से सबसे प्रासंगिक मूल्यों का चयन करें। जरूरत इस बात की है कि हम शिक्षा में मूल्यों पर बहस को फिर से शुरू करें।

शर्मिला रेगे

वर्चस्व और प्रतिवर्चस्व की अवधारणा का इस्तेमाल करते हुए भारतीय विद्वानों द्वारा भारत और दुनिया के लिए एक नई शिक्षा के निर्माण के प्रयास में स्वर्गीय शर्मिला रेगे का काम, एक अद्‌भुत उदाहरण है। रेगे पुणे विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में सावित्रीबाई फुले वुमेन्स स्टडी सेन्टर में 2013 में अपनी असामयिक मृत्यु तक पढ़ाती रहीं। उनका तर्क था कि ज्यादातर भारतीय शिक्षा जाति और पितृसत्ता की छिपी हुई ताकतों द्वारा निर्मित है। यद्यपि शिक्षण संस्थान तटस्थ होने का दावा करते हैं लेकिन व्यवहार में खास जातियों और जेण्डर के छात्र सबसे ज्यादा इसका दंश झेलते हैं। इनकी संस्कृति पाठ्यचर्या से अनुपस्थित रहती है। शिक्षणशास्त्रीय विधि और यहां तक कि वह भाषा जिसमें पढ़ाया जाता है वह विशेषाधिकार प्राप्त सम्पन्न समूहों के रोजमर्रा के जीवन के इर्द-गिर्द होती है जिससे बाकी लोग बहिष्कृत हो जाते हैं। ऐसी व्यवस्था यह सुनिश्चित करती है कि ऐतिहासिक रूप से शोषित समूहों के लोग शिक्षण संस्थानों में तो आ सकते हैं लेकिन फिर भी उन्हें सबसे निचली पायदान पर ही रखा जाए। रेगे ज्योतिबा फुले, बी.आर. अम्बेडकर और पाउलो फ्रेरे के विचारों से प्रेरणा लेकर शिक्षा में एक भिन्न दृष्टिकोण की बात करती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि स्कूल और कॉलेज सामाजिक असमानता के पुनुरुत्पादन के महज केन्द्र भर ही हों। ज्योतिबा फुले ने शिव की तीसरी आंख यानी तृतीय रत्न के ताकतवर रूपक का इस्तेमाल आलोचनात्मक शिक्षा के अर्थ में किया है। अपने लिए सोचना सीखना वैसे ही है, जैसे शिव की तीसरी आंख का खुलना जिससे इसके सामने पड़ने वाले सभी झूठ नष्ट हो जाते हैं। रेगे के अनुसार, शिक्षा के प्रति फुले-अम्बेडकर नारीवादी दृष्टिकोण की यह ताकत है कि यह परम्परागत शिक्षा के आधार मिथ्या चेतना को जला कर राख कर देती है। इसके स्थान पर एक नई शिक्षा विकसित होती है जो शोषित और हाशियाकृत लोगों को ताकत देती है।

रेगे का मानना था कि ऐसी शिक्षा से शुरुआत करने का मतलब है कि छात्रों के लिए वह जगह बनाना जहां वह कक्षा में अपनी आवाज उठा सकते हैं। कक्षा-कक्ष की भाषा को बदलना जरूरी था और शिक्षक और छात्र के बीच रिश्तों को भी बदलना जरूरी था। सामान्य ब्राह्मणवादी मॉडल जहां शिक्षक को सभी ज्ञान का स्रोत माना जाता था, इसके बजाय यह स्वीकार किया गया कि छात्र अपने समुदायों की बुद्धिमत्ता और ज्ञान कक्षा-कक्ष में लेकर आते हैं। उन्हें इस तरह से ताकतवर बनाया जाना चाहिए कि जिससे उनके भीतर का ज्ञान बाहर आ सके और वे इस पर अपनी प्रतिक्रिया दे सकें। इसका यह मतलब नहीं है कि कक्षा-कक्ष में शिक्षक की कोई भूमिका नहीं होती। लेकिन अब यह भूमिका अलग किस्म की है, जहां शिक्षक की उड़ेलने वाले की भूमिका के बजाए मददगार और सहेजने वाले की भूमिका पर ज्यादा जोर है। छात्रों द्वारा जो पढ़ा जाता है और जिस तरह का असाइनमेंट वे करते हैं, उसमें भी बदलाव लाना होगा। रेगे ने अपने छात्रों से उन मुद्दों पर काम कराया जो तात्कालिक रूप से उनके आस-पास थे और इस तरह के सवालों को उठाया कि जो भोजन वह खाते हैं क्या वह ''भारतीय भोजन'' की उन छवियों से मेल खाते हैं जिसे परम्परागत पाठ्यपुस्तकें पेश करती हैं। उच्च जातियों के अलावा दूसरी जातियों द्वारा खाया जाने वाला भोजन क्या कम भारतीय है, उन्होंने पूछा।

शर्मिला रेगे, अविजित पाठक और कृष्ण कुमार उन महत्वपूर्ण विद्वानों में से हैं जिन्होंने शिक्षा को प्रभावित करने वाली छिपी हुई सामाजिक ताकतों को उजागर किया और शिक्षा की वैकल्पिक दृष्टि को निर्मित करने का प्रयास किया। विश्लेषणात्मक रूप से ऐसे सैद्धान्तिक दृष्टिकोण नव-मार्क्सवादी परम्परा से काफी समानता रखते हैं, चाहे वे इस उपाधि की परवाह करते हों या नहीं। कुछ खास रूपों में, वे ब्रिटिश और अमेरिकी नव-मार्क्सवादियों के चिन्तन से आगे चले जाते हैं और अनूठे भारतीय और दक्षिण एशियाई महत्व को सामने लाते हैं। उनके लिए इस क्षेत्र के सांस्कृतिक संसाधन शिक्षा पर पुनर्विचार का एक ऐसा रास्ता खोलते हैं, जो चुनौती पेश करता है और जाति, धर्म, वर्ग और क्षेत्र की पुरानी श्रेणीबद्धता को पुनर्स्थापित नहीं करता। वे ऐसी शिक्षा के निर्माण की ओर आगे बढ़े जो लोगों को मुक्त करती है और उसी समय उनकी संस्कृति को उनकी ताकत का स्रोत बनाती है। उन्होंने ताकतवरों द्वारा निर्मित वर्चस्व को दूर हटाने में मदद की और प्रतिरोध के वृहत्तर रूपों का उदाहरण सामने रखा जिसके आधार पर एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था निर्मित की जा सके जिससे लोग सशक्त बन सकें और सामजिक संबंधों को बदला जा सके। ◆

लेखक परिचय : जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बैंगलोर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

संपर्कः amman.madan@apu.edu.in

संदर्भ

Freire, Paulo. (1970) 2005. Pedagogy of the Oppressed. New York and London: Continuum.

Willis, Paul. (1977) 1981. Learning to Labor: How Working Class Kids Get Working Class Jobs. Morningside. Columbia University Press.

अतिरिक्त पठन सामग्री

Kumar, Krishna. 2005. Political Agenda of Education, 2nd ed. New Delhi: Sage.

Pathak, Avijit. 2008. Education and Moral Quest: Recalling the Forgotten, New Delhi: Aakaar.

Rege, Sharmila. 2010. "Education as Trutiya Ratna: Towards Phule-Ambedkarite Feminist Pedagogical Practice."

Economic and Political Weekly 44 (44) : 88-98.